डाउनलोड मुद्रण

अ+ अ-

सिनेमा

क्या आदमी था 'राय'!

जावेद सिद्दीकी

अनुवाद - शकील सिद्दीकी

'रौशनदान' उनके रेखाचित्रों का निकट अतीत में प्रकाशित हुआ बहुमूल्य संग्रह है, जिसमें उन्होंने अपने जीवन में आए यादगार लोगों में कुछ को शब्दों में चिरजीवता देने का प्रयास किया है। नियाज हैदर हों, अबरार अलवी हों, सुल्ताना जाफरी हों, घर में काम करनं वाली बुआ हों या मौलाना शौकत अली के पुत्र हों, प्रत्येक रेखाचित्र अपनी जगह अत्यंत प्रभावशाली, जीवंत और संपूर्ण है। महान, फिल्म निर्माता निदेशक सत्यजित राय पर उनका रेखाचित्र उनकी फिल्मों के समान ही दस्तावेजी हैसियत रखता है। साहित्य की तो यह मूल्यवान निधि है ही, भारतीय सिनेमा के इतिहास का भी ये विशिष्ट अध्याय है। सत्यजित राय को कई-कई कोणों से देखने जानने का अलग सुख है इसमें पर्त दर पर्त खुलता हुआ उनका व्यक्तित्व।

अक्टूबर, 1976 तक सत्यजित राय से मेरा ताल्लुक बस इतना था कि मैंने उनके बारे में दो-चार लेख पढ़े थे और आठ-दस फिल्में देखी थीं। फिल्में जितनी थीं देखीं, बहुत अच्छी लगीं क्योंकि ऐसी फिल्में पहले कभी नहीं देखी थीं। मुझे उनकी 'जलसाघर' बहुत पंसद आई थी। कुछ तो बेगम अख्तर की वजह से और कुछ इसलिए कि मैं भी उन्हीं हवेलियों में पला हुआ था, जहाँ किसी जमाने में वक्त थम कर बैठ गया था और फिर ईंट-ईंट बिखेर के बाहर निकल गया था।

उनकी फिल्मों के मुकालमों (संवादों) की जबान समझ में नहीं आती थी, मगर तस्वीरों की बोली अच्छी तरह समझ लेता था। उनकी फिल्मों का हर फ्रेम जिंदगी से इतना करीब लगता था कि साँस लेता हुआ महसूस होता था।

उस जमाने में जब इमरजेंसी लग चुकी थी और बहुत-से पत्रकार इज्जत बचाने के लिए घरों में बैठ गए थे। मैं भी अखबार छोड़ चुका था और वक्त काटने के लिए अबरार अल्वी के पास चला जाता था।

उसी जमाने की बात है यानी अक्टूबर 1976 की जब शम्अ जैदी का फोन आया और उन्होंने कहा, 'ए जावेद! वे सत्यजित राय तुमसे मिलना चाहते हैं'

मैं हैरान हो गया, 'मुझ से वे मुझे क्या जानें!'

'मुझे ये सब नहीं मालूम, प्रेसिडेंट में ठहरेंगे। परसों शाम को चार बजे मिल लेना।' उन्होंने सूखा-सा जवाब दिया और फोन बंद कर दिया।

बात सोचने जैसी थी। राजा अदने आदमी से क्यों मिलना चाहेगा शम्अ बीबी जरूर कोई शरारत कर रही हैं। मेरी अजीजतरीन दोस्त शम्अ जैदी बड़ी बा-कमाल खातून हैं। वे संजीदगी से झूठ बोलने और निहायत गैर संजीदगी से सच बोलने की सलाहियत रखती हैं। उनके चेहरे, आवाज या अल्फाज से ये पता लगा लेना कि उनके इरादे क्या हैं, निहायत मुश्किल, बल्कि नामुमकिन है। इसलिए जब फोन आया, तो यकीन करने से पहले देर तक सर खुजाना पड़ा। फोन क्या था, शम्अ ने ठहरे हुए पानी में पत्थर फेंक दिया था और मैं लहर-लहर पर परेशान हो रहा था।

फरीदा ने परेशानी की वजह सुनी, तो हँस पड़ीं, 'अरे तो इसमें हैरान होने की क्या बात है। तुम इतने अच्छे मजाहिया (हास्य) कॉलम लिखते हो, कोई पंसद आ गया होगा। फिल्म बनाना चाहते होंगे।'

शौहरों को बीवियों की खुशगुमानी आम तौर पर अच्छी लगती है। मगर मसला ऐसा था कि मैं झुंझला गया, तो उन्होंने कहा, 'ओफ्फो! इसमें इतना परेशान होने की क्या बात है। होटल में फोन करके देख लो, अगर रे साहब हैं, तो शम्अ सच बोल रही हैं और अगर नहीं हैं तो उनका जोक समझ के भूल जाओ।'

मश्वरा कुछ इस कदर सही था कि मैंने चुपचाप मान लिया और फोन किया तो मालूम हुआ कि रे साहब तशरीफ ला चुके हैं। फिलहाल रूम में नहीं हैं।

मैं और ज्यादा नर्वस हो गया। दिल के धड़कने की आवाज चारों तरफ से आने लगी, 'यार! ये चक्कर क्या है मैं शम्अ से पूछना चाहता था, मगर उनका क्या भरोसा डाँट दें तो।

लेकिन एक बात साबित हो चुकी थी। वह शरारत नहीं कर रही थी। सत्यजित राय बंबई में थे, होटल प्रेसिडेंट में थे, कमरे में नहीं थे तो क्या हुआ

शम्अ ने चार बजे का टाइम दिया था। मैं तीन ही बजे कोलाबा पहुँच गया, जहाँ प्रेसिडेंट है। देर तक लॉबी में घूमता रहा जहाँ चार पाँच दुकानें थीं। जब फलोरिस्ट के हर फूल को देख चुका और कश्मीरी कालीनों के सारे डिजाइन याद हो गए, तो लॉबी के फोन से नंबर डायल किया। दूसरी तरफ से एक खरजदार मगर खुशगवार आवाज सुनाई दी। 'यस्स'

मैंने अपना नाम बताया ही था कि आवाज आई, 'कम-अप!' और फोन बंद हो गया।

सत्यजित राय आलमी सिनेमा में बहुत ऊँचा मकाम रखते थे, मगर वह ख़ुद भी उतने ऊँचे होंगे, मैंने कभी सोचा नहीं था। जब छह फीट चार इंच के रे साहब ने दरवाजा खोला, तो मेरा मुँह भी खुल गया और देर तक खुला रहा।

रे एक शानदार शख्सियत के मालिक थे। लंबे थे, मगर दुबले नहीं थे। सांवला रंग, कुशादा पेशानी, सलीके से जमे हुए बाल, बड़ी-बड़ी रौशन आँखें, ऊँची सुतवाँ नाक, मुस्कराते हुए होंठ, ठोड़ी जरा चौड़ी थी। कहा जाता है, ऐसी ठोड़ी वाले बहुत मेहनती और मुस्तकिल-मिजाज होते है।

मैंने आदाब किया। उन्होंने सर हिलाकर जवाब दिया और कुर्सी की तरफ इशारा किया। मैं कुर्सी के कोने पर टिक गया। वे बेड पर दीवार से पीठ लगाके बैठे और अपनी चमकती आँखों से जिनमें हल्की-सी मुस्कराहट भी थी, मुझे देखने लगे। चश्मे की डंडी उनके मुँह में थी जिसे वे धीरे-धीरे चबा रहे थे। वे तकरीबन एक मिनट तक बिना कुछ बोले मेरा जायजा लेते रहे फिर इंग्लिश में पूछा, 'मैंने सुना है तुम बहुत अच्छी कहानियाँ लिखते हो।

मैंने अर्ज किया, 'कहानियाँ कम, कॉलम ज्यादा लिखे हैं। पता नहीं, कैसा लिखता हूँ। आप कहें तो अपनी कोई तहरीर तर्जुमा करा लूँ। आप देख लें'।

उनकी मुस्कुराहट कुछ ज्यादा फैल गई, बोले, 'कोई जरूरत नहीं। मैं तुम्हें देख सकता हूँ और इतना काफी है।'

ये कह कर वे उठे, तकिए पर रखा एक प्लास्टिक का फाइल उठाया और मेरी तरफ बढ़ाते हुए कहने लगे, 'ये मेरी फिल्म का स्क्रिप्ट है और तुम इसके डायलॉग लिख रहे हो।'

पता नहीं, मुझे क्या हुआ! दिमाग कई हजार मील फिट घंटे की रफ्तार से घूम गया। कुछ बोला ही नहीं गया। बड़ी मुश्किल से ख़ुद को संभाला और हाथ में पकड़े फाइल पर नजर डाली तो सफेद प्लास्टिक में से मोटे-मोटे स्याह हुरूफ दिखाई दिए-फॉर योर आईज ओनली।

मगर आँखें थीं कि बंद हुई जा रही थीं। बड़ी मुश्किल से कहा, 'Thank you sir, I am honoured sir.'

वे उठे और दरवाजा खोल दिया, 'मैं तेहरान फिल्म फेस्टिवल में जा रहा हूँ। वापसी पर तुम्हें फोन करूँगा।'

'जी', मैंने कहा और स्क्रिप्ट छाती से लगाकर भाग खड़ा हुआ। जब होटल की लॉबी में पहुँचा तो होश जरा ठिकाने आए।

ये हुआ क्या मैं और डायलॉग! और वह भी सत्यजित राय की फिल्म के अरे बाप रे!

जेब में हाथ डाल कर पैसे गिने, तो हमेशा की तरह कम ही थे। मगर मैंने कल की नहीं सोची और कोलाबा से टैक्सी पकड़ी और जुहू तारा पहुँचा, जहाँ शम्अ रहती थीं। 25 मील लंबा रास्ता कट गया, मालूम ही नहीं हुआ, क्योंकि दिमाग कहीं और था। जेहन में सवालों की आँधी चल रही थी जिसमें जवाबों के पैर उखड़े जा रहे थे।

महमूद के कहने पर अबरार अलवी के लिखे सीन में काटछाँट कर देना और जरूरत पड़ने पर एकाध सतर का पैबंद लगा देना एक अलग बात है और बाकाइदा मुकालमानिगारी (संवाद लिखना) करना अलग। अच्छा भी लग रहा था और डरता भी जाता था कि पता नहीं शम्अ ने कहाँ फंसा दिया है।

मैं पहुँचा तो वो मुस्करा रही थीं। उन्होंने अपनी खास अदा से पलकें झपका के पूछा, 'हो गईमुलाकात

मैंने स्क्रिप्ट उनके हाथ में थमा दिया, 'हो गई ये देखो और अब बताओ कि डायलॉग कैसे लिखते हैं

शम्अ ने बड़े अदब से फाइल को देखा। प्यार से उसके ऊपर हाथ फेरा और बोलीं, 'डोंट बी सिली! डायलॉग कौन-सा मुश्किल काम है।'

मैं भड़क गया, 'अरे यार, तुम भी कमाल करती हो प्रेमचंद की कहानी, सत्यजित राय का स्क्रीन प्लेअगर जरा-सी भूल चूक हो गई, तो लोग पकड़ के मारेंगे।'

'कोई नहीं मारेगा, कुछ नहीं होगा।'

किस्सा मुख्तसर तय ये पाया कि हम दोनों मिलकर लिखेंगे। जबान मेरी, तज्रिबा उनका। शम्अ को तज्रिबा के साथ सलीका भी था। वे कुछ छोटी-मोटी फिल्मों और 'गर्म हवा' में अपना हाथ साफ कर चुकी थीं। मगर यहाँ खालिस उर्दू लिखनी थी। सबसे पहले हमने स्क्रिप्ट पढ़ा।

मानकदा ने (वह लोग जो सत्यजित राय के करीबी थे, मानकदा कहा करते थे। मानक उनका घरेलू नाम था) एक छोटी-सी कहानी को काफी फैला दिया था और उस वक्त की सियासत को बड़ी खूबसूरती से कहानी के अंदर ले आए थे। सबसे बड़ी खूबी ये थी कि उन्होंने अवध के आखिरी ताजदार वाजिद अली शाह का मजाक उड़ाने के बजाए उनकी कमजोरियों का जिक्र किया था, मगर उसे एक ऐसा बादशाह दिखाया था, जो अपनी कमजोरी की वजह से नहीं, बल्कि अंग्रेजों की मक्कारी की वजह से सल्तनत खो बैठता है।

हमारे सामने बड़ा मसला ये था कि अगर हम वही जबान लिखते हैं, जो उस वक्त राइज थी, तो आज के फिल्म देखने वाले समझ ही नहीं पाएँगे, क्योंकि मुहावरा बदल चुका है। अल्फाज और उनका इस्तेमाल भी वह नहीं है, जो था। चुनांचे हमने तय किया कि हम एक ऐसी जबान लिखेंगे, जो आसान और आमफहम होगी। मगर सुनते हुए ऐसा लगेगा जैसे वह डेढ़ सौ साल पहले की उर्दू है। हमने ये भी तय किया कि किरदारों की जबान मुख्तलिफ होगी और उसमें समाजी, कल्चरल और कारोबारी झलक दिखाई देगी।

अगर आप 'शतरंज के खिलाड़ी' के मुकालमों की जबान पर गौर करें, तो आपको एहसास होगा कि मीर और मिर्जा की जबान अलग है। वाजिद अली शाह के लफ्ज दूसरे हैं। इसमें ऐसी नग्मगी है जो बंदिश में आ जाए, तो ठुमरी मालूम होगी। दरबारियों की जबान पर फारसी का असर है, अवाम अवधी बोलते हैं और खवातीन कहावतों और मुहावरों से सजी हुई रवाँ-दवाँ बोली बोलती हैं। हमने कोशिश करके पूरी फिल्म में ऐसा कोई लफ्ज नहीं इस्तेमाल किया, जो कानों को बुरा या मालूम हो।

उर्दू का कमाल ये है कि इसमें एक ला-महसूस मूसीकी है। अगर कलम किसी जानकार के हाथ में है, तो लफ्ज नहीं, सुर बन जाते हैं। मेरे और शम्अ के जोश का आलम ये था कि अपना होश नहीं था। रोजाना बारह-चौदह घंटे काम करते, मगर जरा-भी थकान का एहसास नहीं होता।

स्क्रिप्ट धीरे-धीरे आगे बढ़ता गया और बहुत-से राजों से पर्दा भी उठता गया। मालूम हुआ कि सत्यजित राय तक मेरा नाम पहुँचाने वाली शम्अ ही थीं और इस सिफारिश के पीछे एक कहानी थी।

जब प्रोड्यूसर सुरेश जिंदल ने मानकदा को राजी कर लिया कि वे हिंदी या उर्दू में फिल्म बनाएँगे और उन्होंने प्रेमचंद की कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' का इंतिखाब किया, तो सवाल पैदा हुआ कि इसके मुकालमे (संवाद) कौन लिखेगा हर अच्छे स्क्रीनप्ले की तरह 'शतरंज के खिलाड़ी' में भी मतलब और जरूरत को समझाने के लिए अंग्रेजी मुकालमे लिख दिए गए थे, मगर वे मुकालमे नहीं थे, वे तो इशारिए थे जिनकी मदद से उसी तारीखी फिल्म के मुकालमे लिखे जाने थे। सुरेश जिंदल का खयाल था कि शतरंज के खिलाड़ी के डायलॉग राजेंदर सिंह बेदी से

बेहतर कोई लिख ही नहीं सकता। फिल्म के एक हीरो थे संजीव कुमार। वे चाहते थे कि गुलजार से लिखवाए जाएँ, जो अपनी ज़ुबान की सादगी और मिठास के लिए मशहूर हैं। मगर मानकदा के पुराने साथी और दोस्त आर्ट डायरेक्टर बंशीचंद्र गुप्त और शबाना की नजर में कैफी आजमी के अलावा कोई दूसरा इस फिल्म के साथ इंसाफ नहीं कर सकता। उम्मीदवारों में एक नाम और भी था अख्तरूलईमान का। उनका नाम शायद अमजदखां ने तज्वीज किया था जो वाजिद अली शाह का किरदार अदा कर रहे थे और अख्तर साहिब के दामाद थे।

मानकदा के सामने सारे नाम रखे गए। काफी मुबाहसे हुए, मगर उनकी राय सबसे अलग थी। उन्होंने कहा, बेदी साहब और गुलजार साहब बहुत अच्छा लिखते हैं, मगर पंजाबी हैं और फिल्म का पस-मंजर लखनऊ है, जिसे वह नहीं जानते। अख्तरूलईमान इसलिए काबिले-कबूल नहीं थे कि मानक दा को बी.आर. चोपड़ा की फिल्मों जैसे संवाद नहीं चाहिए थे। ले-दे के रह जाते थे कैफी साहब। उर्दू दुनिया का बड़ा नाम, उत्तर भारत के रहने वाले और 'हीर-राँझा' और 'गर्म हवा' जैसी फिल्मों की मुकालमानिगारी का तजुर्बा भी रखते थे।

फैसला हुआ कि 'शतरंज के खिलाड़ी' के डायलॉग कैफी साहब लिखेंगे। चुनाँचे एक मुलाकात का बंदोबस्त किया गया। मगर वह मुलाकात जिसे फिल्म और अदब का संगे-मील बनना था, बुरी तरफ फ्लाप हो गई, क्योंकि उसमें 'जबाने-यार मन तुर्की व मन तुर्की नमी दानम' वाली सूरते-हाल पैदा हो गई। कैफी साहब ने सारी जिंदगी उर्दू के इलावा किसी और जबान को मुँह नहीं लगाया था और सत्यजित राय बाबू बाँग्ला और इंग्लिश के इलावा कोई और जबान न बोल सकते थे, न समझ सकते थे।

इस टेढ़े मस्अले के बहुत-से हल सोचे गए जिनमें से एक ये भी था कि शबाना तर्जुमान (प्रवक्ता) का काम करें। वह अपने अब्बा के लिए ये तकलीफ सहने को तैयार भी थीं, मगर रे साहब का कहना था कि राइटर और डायरेक्टर का रिश्ता मियाँ-बीवी के रिश्ते जैसा होता है और ये बिना-शिरकते गैर होना चाहिए। उन्होंने कहा, 'मुझे कोई नामवाला अदबी या फिल्मी राइटर नहीं चाहिए। नया आदमी भी चलेगा। बस उसे जबान आनी चाहिए"

और यही वह मौका था, जब शम्अ ने मेरा नाम लिया और बहुत-से लोगों के नाक भौं सिकोड़ने और शम्अ की नासमझी पर एतराज करने के बावजूद सत्यजित राय ने मुझसे मिलने का इरादा जाहिर किया।

ये पस मंजर (पृष्ठभूमि) था। पेश-मंजर ये था कि हम दोनों ने आठ ही दिन में सारे डायलॉग लिख डाले और एक दूसरे की खूब कमर ठोंकी, मगर दिल डर रहा था, क्योंकि असली इम्तिहान तो बाकी था। मानकदा के सामने पेशी

कोई दो दिन बाद वे तेहरान से लौटे, तो फोन किया, 'तुमने स्क्रिप्ट पढ़ लिया।

'पढ़ लिया? सर हमने तो लिख लिया! मैंने खुश होकर कहा।

फोन पर उनकी हँसी सुनाई दी, 'रियली देट इज माइ स्पीड यंगमैन।'

तय पाया कि दो दिन बाद हम मिलेंगे और स्क्रिप्ट सुनाया जाएगा।

दो दिन बाद मैं और शम्अ होटल प्रेसिडेंट पहुँचे, तो हैरान रह गए।

कमरे में जलसा जमा हुआ था। फर्श के ऊपर दीवार से कमर टिकाए कोई आधा दर्जन बुजुर्ग तशरीफफर्मा थे। उनमें से कुछ लोगों को मैं जानता था। कुछ सूरत-आशना थे। प्रोफेसर निजामुद्दीन सेंट जेवियर में उर्दू-फारसी डिपार्टमेंट के हैड थे। एक साहब अंजुमने-इस्लाम रिसर्च इंस्ट्टियूट के निगरां थे। एक और बुजुर्ग एक अदबी रिसाले के एडिटर थे। बाकी हजरात भी कुछ इसी कबील के थे। उर्दू के उन माहिरीन की सूरत देखते ही समझ में आ गया कि इन लोगों को मेरी और शम्अ की काबिलियत जाँचने के लिए बुलाया गया है। मानकदा बेड पर बैठे थे और उनके पास ही सुरेश जिंदल और बंशीचंद्र गुप्त विराजमान थे।

मुझसे जर्नलिज्म छूट चुका था, मगर उसकी आदतें नहीं छूटी थी। ये बुरी आदत अब तक है कि किसी से डरता नहीं हूँ। अच्छा सहाफी वही होता है, जो अमीरों-वजीरों तक को खातिर में नहीं लाता और खतरों में बेखतर कूद पड़ता है।

मैंने भी एक कोना पकड़ा। फाइल खोलकर इस तरह सामने रखा जैसे मीलाद पढ़ने का इरादा हो। शम्अ मेरे बराबर बैठ गई। मैंने एक बार मानकदा की तरफ देखा जिनकी आँखों में ऐसी चमक थी जैसे बच्चे को मुँह माँगा खिलौना मिलने वाला हो और चश्मे की कमानी मुँह में थी।

मैंने पहले सीन से लेकर आखिरी डायलॉग तक पूरा स्क्रिप्ट इस तरह सुनाया कि गला गीला करने के लिए भी नहीं रुका।

कोई डेढ़ घंटे बाद जब फाइल बंद हुई तो कमरे में अजीब तरह का सन्नाटा था। हाजिरीन की सोचती, तौलती आँखें मेरे और शम्अ के ऊपर जमी हुई थीं। थोड़ी देर बाद सबसे पहली आवाज मानकदा की सुनाई दी। एक हल्की-सी हँसी के साथ उन्होंने कहा, 'आई डोंट नो व्हाट ही हैज रिटेन, बट इट्स साउंड्स गुड।'

कुछ बुजुगरें ने तब्सिरे और कुछ ने सवाल किए। बंशीचंद्र गुप्त ने जो बहुत अच्छी उर्दू जानते और बोलते थे, पूछा, 'आपने एक जगह लिखा है, तड़के चलेंगे झुटपुटे में लौट आएँगे । क्या लोग इसे समझ पाएँगें मैंने अर्ज किया, 'कहना ये है कि सुब्ह को चलेंगे, शाम को लौट आएँगे ।' इस डायलॉग में सुबह-शाम भी इस्तेमाल हो सकते थे। ये भी कहा जा सकता था कि सवेरे चलेंगे, रात को लौट आएँगे । लेकिन तड़के और झुटपुटे इसलिए इस्तेमाल किया है कि उस जमाने की जबान का मुहावरा सुनाई दे सके। कान को जरा-सा अजनबी लगता है, मगर अच्छा लगता है और मतलब तो समझ में आ ही जाता है।"

मुख्तसर ये कि मैं और शम्अ बहुत अच्छे नंबरों के पास हो गए। सुरेश जिंदल ने भी तरह-तरह से इत्मीनान करने के बाद सब्र व शुक्र से काम लिया और दो नए लोगों को कबूल कर लिया। और मुझे ये ख़ुशखबरी सुनाई कि मैंने जो कारनामा अंजाम दिया है, उसके लिए इज्जत व शुहरत के अलावा पंद्रह हजार रुपए भी मिलेंगे। शम्अ चूँकि फिल्म के कॉस्ट्यूम्स भी कर रही थीं, इसलिए उनका मुआवजा क्या था, मुझे मालूम नहीं।

स्क्रिप्ट मिलने के बाद मानकदा की पहली फरमाइश ये थी कि मुकालमों का हर्फ बः हर्फ तर्जुमा इंग्लिश में किया जाए और उनको भेजा जाए ताकि उन्हें अंदाजा हो सके कि हम लोग उनके स्क्रीन प्ले से कितने दूर या करीब हैं। ये काम शम्अ ने फौरन कर दिया। उनकी इंग्लिश माशाअल्लाह मेरी उर्दू से भी अच्छी है।

उसके बाद मेरी बारी आई। मानकदा उर्दू मुकालमों का एक-एक लफ्ज बाँग्ला लिपि में लिखते और फिर बोल कर देखते। मैंने वजह पूछी तो फरमाया, 'जबान कोई भी हो, लफ्जों की अपनी मूसीकी होती है। ये मूसीकी सही होनी चाहिए। अगर एक सुर गलत लग जाए, तो पूरा सीन बेमानी हो जाता है।' ये सुब्हानअल्लाह!

यहाँ तक सब खैरियत थी कि अचानक मानकदा ने कलकत्ते से फोन किया और बोले 'तुम्हारे डायलॉग मेरी समझ में तो आ गए, मगर एक्टरों को कौन समझाएगा कि बोलना कैसे है

मस्अला टेढ़ा था। मैं परेशान होने लगा तो उन्होंने हल भी निकाल दिया, 'तुम कोई दूसरा काम नहीं कर रहे हो, तो डायलॉग-डायरेक्शन भी सँभाल लो।'

मैंने सोचने की मुहलत माँगी, मगर दूसरे दिन प्रोड्यूसर ने बताया कि डायलॉग डायरेक्शन के पंद्रह हजार रुपए और मिलेंगे, तो न कहने की कोई गुँजाइश ही नहीं बची। और मैं कलकत्ते पहुँच गया और मानकदा के सलाम को हाजिर हुआ।

मानकदा बिशप रोड पर एक फ्लैट में रहते थे। लकड़ी के ऊँचे दरवाजे से घर के अंदर आओ, तो एक हॉल जैसा था जिसमें कुछ सोफे, कुछ कुर्सियां, किताबों की अलमारी, शेल्फ पर कुछ ट्राफियाँ और एक पियानो आँखों का इस्तकबाल करता था। कमरे के आखिरी सिरे पर बड़ी-बड़ी खिड़कियों के पास, जो सड़क की तरफ खुलती थी, मानकदा एक आराम कुर्सी पर नीम दराज होते थे। आम तौर पर घुटना टेढ़ा करके उस पर राइटिंग पैड रख लिया करते थे और कलम फर्राटे भरता होता था।

घर की हर चीज में सलीका और नफासत दिखाई देती थी। मेरा खयाल है, इस खुश मजाकी की जिम्मेदार मानकदा से कहीं ज्यादा 'बोदी' (बहू दीदी) यानी मिसेज रे थीं। बड़ी ही प्यारी और मुहब्बत करने वाली खातून थीं। जब भी मिलती थीं, एक बेहद मासूम मुस्कराहट चेहरे पर फैल जाती और हाथ तो इतने प्यार से फैलते थे, बेसाख्ता गले लग जाने को जी चाहता था।

सत्यजित राय को सत्यजित राय बनाने में बोदी की बेलौस मुहब्बत और अपने मानक की सलाहियत पर यकीन ने बेमिसला किरदार (रोल) अदा किया है। कहा जाता है कि 'पथेर पंचाली' आधे में ही बंद हो गई थी, क्योंकि पैसे खत्म हो गए थे। उस वक्त बोदी ने अपने सारे जेवर गिरवी रखकर कहा था, 'जेवर तो जब चाहो, बन सकते हैं, पथेर पंचाली बार-बार नहीं बन सकती!'

कलकत्ता मेरे लिए नया नहीं था। पहले भी कई बार आ चुका था, मगर वह शहर मुझे कभी पंसद नहीं आया। जिधर देखो, एक तरतीब हुजूम दिखाई देता था। बिल्कुल ऐसा लगता था जैसे किसी ने कोई पुराना पत्थर हटाया हो और नीचे से लाखों चिउंटियाँ बिलबिलाकर बाहर निकल आयी हों। अब इसे वक्त की सितमजरीफी ही कहिए कि कुछ दिन बाद चिउंटियों के इस बेतरतीब हुजूम में मैं और शम्अ भी शामिल हो गए।

हुआ यूँ कि कलकत्ता पहुँचकर स्टुडियो में कदम रखा, तो एक अजीब मंजर नजर आया। आर्ट डिपार्टमेंट के लोग और मानकदा के कुछ असिस्टेंट मीर और मिर्जा के घरों के लिए प्रॉपर्टी जमा कर रहे थे। और सख्त परेशान थे, क्योंकि किसी को नहीं मालूम था कि जो सामान इकट्ठा किया गया है, वह गलत है या सही! उन लोगों के लिए जिन्होंने लखनऊ कभी देखा भी न हो, हजार मील दूर बैठकर डेढ़ सौ बरस पुरानी तहजीब को जिंदा करना चराग

से जिन्न निकालने के बराबर था। सामान सब था, मगर ज्यादातर गलत था। मिसाल के तौर पर पानी के लिए मिट्टी के बर्तन मँगा लिए थे, मगर वह घड़े नहीं थे, बड़े मुँह वाले मटके थे। यू.पी. के घड़े इतने छोटे मुँह के होते हैं कि हाथ फंस जाता है। मैंने सोचा, डायलॉग डायरेक्शन तो तब होगी जब शूटिंग शुरू होगी। अभी तो इंद्रपुरी स्टूडियोज में लखनऊ बनाने का काम शुरू कर देना चाहिए। चुनांचे मैंने आस्तीन चढ़ाई और हमला बोल दिया। घड़े तो मिल गए, उनको रखने के लिए लकड़ी की घड़ौंची बनवाई। मुँह पर बाँधने के लिए लाल कपड़ा मंगवाया, मगर तांबे या चाँदी के नक्शीं कटोरे नहीं मिले।

मानकदा आए और मुझे मिट्टी के तेल और कोयले की राख से बर्तनों को चमकाते देखा, तो हंस पड़े, ये क्या हो रहा है उन्होंने पूछा।

'मैं बेकार नहीं बैठ सकता सर!' मैंने जवाब दिया। उन्होंने मेरा कंधा थपथपाया और बोले, 'स्पेशल प्रॉपर्टी की लिस्ट शम्अ के पास है, तुम चाहो तो शम्अ की मदद कर सकते हो।' चुनांचे हम दोनों ने कलकत्ता के गली-कूचों की खाक छानना शुरू कर दी।

जिस जमाने में शम्अ और मैं फिल्म के लिए सामान जमा करते घूम रहे थे, मानकदा के नाम का वही असर होता था, जो किसी मंत्र का होता है। हर दरवाजा खुल जाता था और दीदः और दिल फर्श-ए-राह हो जाते थे। बँगाल के पुराने रईस अपनी आलीशान हवेलियों में गुजरी हुई अजमत की ऐसी-ऐसी नायाब निशानियाँ छुपाए बैठे थे कि देखकर हैरत होती थी। मैं समझता था कि अपनी तहजीब को बचाने और बचाए रखने का काम जैसे उत्तर भारत वालों ने किया, वैसा कहीं नहीं हुआ, मगर कलकत्ता पहुँचकर अंदाजा हुआ कि बँगाल किसी तौर से पीछे नहीं, बल्कि कुछ आगे ही है। वहाँ कैसे-कैसे शौकीन रईस थे और इसका अंदाजा सिर्फ एक मिसाल से लगाया जा सकता हैं।

हमें एक कलमदान की जरूरत थी। पता चला कि एक बँगाली रईस हैं जो बंदूकें बेचते हैं, मगर नायाब चीजें जमा करने के शौकीन भी हैं। सत्यजित राय का नाम सुना, तो खुद अपनी 'बारी' (हवेली) पर ले गए और अपने खजाने का दरवाजा खोल दिया। दीगर नायाब चीजों का जिक्र तो जाने दीजिए, कलमदानों, कलमों और दवातों का जखीरा देखकर आँखें इस तरह खुलीं कि झपकना भूल गईं। चाँदी से लेकर हाथी दाँत और संदल के कलमदान थे। पर के कलम से लेकर नैजे और निब वाले होल्डर भी थे और दवातें तो अल्लाह की पनाह इतनी थीं कि हिसाब करने में स्याही कम पड़ जाए। सोने, चाँदी और काँच से लेकर लकड़ी और मिट्टी की दवातें हर साइज और हर डिजाइन में मौजूद थीं।

मुझे एक दवात आज तक याद है। शीशे को तराश के कमरख की शक्ल दी गई थी। खाली देखो तो आरपार बिल्कुल शफ्फाफ दिखाई देती थी, मगर रौशनाई डालो तो पंजतन पाक (पाँच पवित्र इस्लामीनाम) के नाम नजर आने लगते थे। उनकी मक्बूलियत का आलम ये था कि हर आदमी दीदः और दिल फर्श-ए-राह कर दिया करता था। फिल्म के आखिरी सीन में जब मिर्जा मीर पर गोली चलाता है और गोली शॉल को छूती हुई निकल जाती है, उसमें जो शॉल इस्तेमाल की गई है, वह एक बेहद कीमती शॉल है जिसकी कीमत उस जमाने में तीस-चालीस हजार रुपए थी। मगर मानक दा की मुहब्बत में उस शॉल के मालिक सेठ केजरीवाल गोली का निशान। दिखाने के लिए उस शॉल में सुराख किए जाने पर भी आमादा हो गए थे। ये अलग बात है कि बाद में उस सुराख को रफू कर दिया गया और शॉल पे कोई निशान भी न रहा लेकिन केजरीवाल की अकीदत का निशान आज भी बाकी है।

('नया वर्क' मुंबई से साभार)

(अनुवादक सुप्रसिद्ध कथाकार और उर्दू साहित्य के मर्मज्ञ हैं)

शीर्ष पर जाएँ